सीमांत पर हिंदी

इनकी विजय सुनिश्चत ही है
तिमिर तीर्थवाले दंगल में
इन्हें न तुम 'बेचारे' कहना
अजी यही तो ज्योति-कीट हैं
जान भर रहे हैं जंगल में

: नागार्जुन

दुर्भाग्य या सौभाग्य से हिंदी आज भारत के दस राज्यों की मुख्य जनभाषा है। इसके अलावे पूरे भारत में न सिर्फ बोली-समझी जाती है बल्कि विभिन्न भाषाभाषियों के बीच आपसी संवाद की स्वाभाविक माध्यम भाषा के रूप में भी इसका विकास और स्वीकार हुआ है। इसके साथ ही भारत के कई पड़ोसी देशों में भी सामान्यत: आपसी बातचीत में हिंदी का स्वाभाविक प्रयोग होता है। बहरहाल, भारत के दस राज्यों की भाषा होना हिंदी के लिए गौरव की बात भी है तो हिंदी भाषियों के लिए दस राजनीतिक सीमांकनों में विभाजित होने और एक भिन्न प्रकार के राजनीतिक और सांस्कृतिक विखराव में होने का भी आधार-कारण है। हिंदी और उर्दू के बीच विभेद हो जाने से जो सामाजिक तनाव और खिंचाव बना उसका अलग ही त्रासद प्रभाव बना हुआ है। मुद्दा यह कि भाषा और भूगोल में विघटन से उत्पन्न इन विखरावों के अपने सामाजिक परिणाम हैं। आज भी विभिन्न कारणों से हिंदी भाषी राज्यों का विभाजन, विघटन और विखराव बिना किसी सकरात्मक और सार्थक प्रतिरोध के जारी है। डॉ. रामविलास शर्मा इतिहास के पन्ने से निकालकर ठीक ही यह ध्यान दिलाते हैं कि: 1936 की लखनऊ काँग्रेस में बालकृष्ण शर्मा नवीन ने हिंदी भाषियों का एक प्रांत बनाने की बात कही थी, लेकिन जवाहरलाल नेहरू ने उन्हें डाँटकर चुप कर दिया था। (काँग्रेस के उस अधिवेशन में निराला जी के साथ डॉ.रामविलास शर्मा भी उपस्थित थे।)

दस वर्ष बाद 1946 में भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी ने संविधान सभा का जो मसौदा पेश किया था, उसमें अन्य जाति प्रदेशों के साथ विशाल हिंदी प्रदेश हिंदुस्तान का नाम भी था।किंतु सन् 50 के दशक में अन्य पार्टियों के साथ कम्युनिस्ट पार्टी ने सारे देश में भाषावार राज्यों की पुनर्गठन की धूम मचा दी, तब उसने हिंदुस्तान को

एकदम भुला दिया। नतीजा यह है कि सांस्कृतिक माँग पर उस राजनीतिक डाँट और विस्मरण के कारण आज एक हिंदी भाषी राज्य का हिंदी भाषी दूसरे हिंदी भाषी राज्य में बाहर का आदमी माना जाता है और होता है। अभी ताजा प्रकरण बिहार से कट कर बने नये राज्य झारखंड के संदर्भ में ध्यातव्य है। आर्थिक-व्यापारिक स्तर पर ग्लोबलाइजेशन तथा राजनीतिक-सांस्कृतिक पर लोकलाइजेशन की तीव्र विस्तारण-संकोचन प्रक्रिया के संदर्भ में यह विखराव जनजीवन एवं भारतीय राष्ट्र दोनों के अलग-अलग तथा संयुक्त परिप्रेक्ष्य में और अधिक त्रासद एवं मारक होकर ही विकसित होता जायेगा और जा रहा है। इसलिए इस आर्थिक-व्यापारिक स्तर पर ग्लोबलाइजेशन और राजनीतिक-सांस्कृतिक पर लोकलाइजेशन की तीव्र प्रक्रिया के बीच संतुलन एवं सामंजस्य संस्थापन के गंभीर दायित्व के मर्म को समझना ही होगा।

व्यापक दृष्टि से देखें तो, साहित्य की संवेदनात्मक पूँजी की कूँजी तो मानवीय संवेदना की सार्वलौकिता, सार्वजनीनता, सार्वकालिकता, सार्वदेशिकता की सापेक्षता और जाति, वर्ण, रंग, नस्ल, लिंग, वय की निरपेक्षता से ही विनिर्मित होती है। तब, पश्चिम बंगाल या किसी भी अ-हिंदी भाषी राज्य विशेष के संदर्भ में हिंदी साहित्य पर अलग से विचार करने का क्या औचित्य हो सकता है? इसका कोई वास्तविक आधार है या सांस्कृतिक अध्ययन के लिए राजनीतिक सीमांकन का आधार ग्रहण करना किन्हीं अन्य कारणों से उत्पन्न एक भिन्न प्रकार की समझ का नतीजा है? फिर यह भी कि क्या इसी आधार पर बिहार, उत्तर प्रदेश, मध्यप्रदेश आदि के भी हिंदी साहित्य पर अलग-अलग विचार करने की आवश्यकता नहीं है? और इस तरह क्या हिंदी साहित्य के अध्ययन में एक नये प्रकार का क्षेत्रवाद नहीं शुरू हो जायेगा! ऐसे कई सवाल जायज रूप से उठ सकते हैं। उठने चाहिए। (हिंदी) जातीयता और (हिंदी) समाज क्या एक दूसरे के अनन्य पर्याय हैं, या इन में अवधारणात्मक, व्यावहारिक और वास्तविक अंतर भी है? यह भी एक महत्त्वपूर्ण वैचारिक प्रश्न है और होना चाहिए? ये और इस तरह के सवाल जोखिम भरे तो हैं लेकिन इतिहास गवाह है कि सबसे बड़ा जोखिम तब उत्पन्न होता है जब समय रहते सही और सचेत लोग ऐसे सवालों का साहस पूर्वक सामना करने के बदले इस तरह के जोखिमों से कन्नी काट कर बच निकलने की प्रवृत्ति के शिकार होने लगते हैं। इन सवालों पर वास्तविक विमर्श के लिए समय रहते सही और सचेत लोगों की व्यापक भागीदारी की जरुरत महसूस की जानी चाहिए।

आगे बढ़ने से पहले एक बार फिर डॉ. रामविलास शर्मा के विचार को नजर में रखना आवश्यक है। डॉ.रामविलास शर्मा का मत है कि अंग्रेजी भाषा इंग्लैंड के अलावा अमरीका, आस्ट्रेलिया आदि अन्य कई देशों में बोली जाती है। इन में रचे हुए साहित्य का इतिहास जातीय आधार पर ही लिखा जाता है--- इंग्लिश लिटरेचर का इतिहास अलग, अमेरिकन लिटरेचर का इतिहास अलग। मौरीशस में काफी साहित्य हिंदी भाषा में रचा गया है। वह मारीशसवासियों का जातीय साहित्य है। उसका इतिहास हिंदी जातीयता के साहित्य से पृथक लिखा जायेगा। यद्यपि अंग्रेजी और हिंदी की भाषिक व्याप्ति में अंतर है तथापि यह तर्क अवचेतन में फैल कर हिंदी क्षेत्र से बाहर अर्द्ध-स्थाई, स्थाई रूप से रहनेवालों के द्वारा लिखे गये हिंदी साहित्य को भी हिंदी जातीयता के साहित्य से बेदखलकर इसे उसी भू-क्षेत्र की जातीयता (जैसे बांग्ला) का साहित्य माने जाने का परोक्ष आग्रह रखता है।

जिसे उस भू-क्षेत्र की जातीयता कभी भी अपना साहित्य नहीं मान सकती है। जैसे, हिंदी प्रदेशों में रहनेवाले और उसी प्रदेश के किसी साहित्यकार द्वारा रचित अंग्रेजी या बांग्ला साहित्य को भी स्वभावत: हिंदी का जातीय साहित्य भी नहीं मान लिया जाता है। इसी मान्यता और मानसिकता के कारण हिंदी प्रदेश के बाहर रहकर हिंदी साहित्य लिखनेवालों को हिंदी प्रदेशों में रह कर हिंदी साहित्य लिखनेवालों के द्वारा सामान्यत: अपने से बाहर का मानकर व्यवहार और विचार किया जाता है। ये न उधर के रहते हैं न इधर के। डॉ. रामविलास शर्मा के उपरोक्त मंतव्य में आंशिक सच्चाई तो है ही । इसलिए ना इधर के ना उधर के लोगों के समाज और उनके साहित्य के अध्ययन के लिए एक अलग अध्याय के औचित्य को भी स्वीकारना ही चाहिए। वैसे प्रसंगत:यह भी देखा जाना चाहिए कि क्या किसी भाषा का साहित्य उस भाषा-क्षेत्र में रहनेवाली जाति के साहित्य का हिस्सा अनिवार्यत: होता ही है या जाति के साहित्य के कुछ भिन्न और अलग लक्षण भी हुआ करते हैं। जिस प्रकार राष्ट्र और जाति में अंतर है उसी प्रकार जाति और समाज में भी अंतर है, यह भी ध्यान में रखना आवश्यक होगा।

इन सारे सवालों पर अपेक्षित गंभीरता, उदारता, सवाधानी और समग्रता के साथ सांस्कृतिक ईमानदारी एवं सहानुभूति से विचार करना आवश्यक है। यह अपेक्षित गंभीरता, उदारता, सावधानी और समग्रता इसलिए आवश्यक है कि विमर्श अपने उत्कर्ष-निष्कर्ष में राष्ट्र, जाति और समाज के पुनर्संघटन एवं पुनर्संयोजन की प्रक्रिया को सार्थक एवं समान व्यवहार का मानवीय आधार प्रदान कर सके। अन्यथा इस प्रकार के विमर्श में उसके विघटन के हथियार में बदल जाने का खतरा भी कम नहीं होता है। खासकर आज के समय में, जब एक नये किस्म का ग्लोबल संपर्क और स्वभाव विकसित हो रहा है तब यह खतरा और भी बढ़ गया है। क्योंकि यह ग्लोबल परंपरा से प्राप्त वैश्विक से न सिर्फ भिन्न है बल्कि अधिक ठोस और कारगर भी है। इस भिन्नता का एक प्रमुख आधार अंतर्राष्ट्रीय वित्त-पूँजी के आवारा मनोरथ के ग्लोबल से जुड़ाव से विनिर्मित है। यह आवारा मनोरथ राष्ट्रीय सीमाओं और संप्रभुता का अतिक्रमण करते हुए न सिर्फ राजनीतिक-राज्य को निगम-राज्य में बदलने और विश्व-पूँजी के जी-आठ के सदस्य देशों की ओर उन्मुख करने में लगा रहता है बल्कि अपने स्वार्थ की पूर्त्ति के लिए परिवार की लक्ष्मण-रेखा को लाँघते हुए व्यिक्त के चित्त की नाभिकीयता में प्रवेश कर भारी विचलन भी पैदा करता है। इस ग्लोबल के दर्शन में या तो पिंड है या फिर व्रह्मांड है, इस पिंड और व्रह्मांड के बीच में अन्य जो भी है वह मिथ्या, माया और प्रतिभास मात्र है। इस ग्लोबल में पशु और देवता की ही कोटि बनती है, बीच में मनुष्य के लिए कोई सम्मानजनक स्थान नहीं है। बहरहाल, भारतीय संस्कृति की बुनावट को ध्यान में रखें तो यह बात बिल्कुल साफ दीखती है कि यह संस्कृति जितनी पुरानी है उतनी ही जटिल भी है। इसकी जटिलता के कई महत्वपूर्ण कारण इसके विस्तृत भू-खंड और वैविध्य भरे भू-स्वभाव से उत्पन्न होते हैं तो दूसरे कई कारण इसकी राजनीतिक संरचना और ऐतिह्य से भी उत्पन्न होते हैं। इस जटिलता के कारण कहीं-कहीं इस में आत्मविरोधी तत्त्व भी सक्रिय पाये जाते हैं।

फिलहाल यह कि केंद्रीयता की स्वीकृति और स्थानिकता के प्रति पुरजोर आग्रह भारतीय संस्कृति का मूल स्वभाव है। इस स्वीकृति और आग्रह की आनुपातिक प्रभावशीलता से भारत की विभिन्न जातीयताओं का

सांस्कृतिक स्वभाव सुगठित-पुनर्गठित होता रहता है। केंद्रीयता की स्वीकृति ने जहाँ इसे भारतीय-राष्ट्रीय एकता का मजबूत सूत्र प्रदान किया है वहीं स्थानिकता ने इसे अपनी स्वतंत्र और कभी-कभी निरपेक्ष जातीय अस्मिता के भाव-बोध से भी संबलित किया है। विखंडनवादियों और विघटनकारियों के हाथों इस केंद्रीय स्वीकृति और स्थानिक आग्रह के पड़ जाने से वे किसी एक पर अधिक बल देकर भारतीय संस्कृति के संपूर्ण ताने-बाने को क्षतिग्रस्त करने के अपने खेल में लग जाते हैं। इस केंद्रीय स्वीकृति और स्थानिक आग्रह का आंतरिक संतुलन बहुत ही संवेदनशील होता है, इतना कि इस में जरा-सी गफलत भी भयंकर जातीय तनाव का कारण बन जाता है। यही वह जगह है जहाँ पर सक्रिय होकर स्वार्थी तत्त्व भारत की सामासिक एकता को चुनौती देने की बार-बार कोशिश करते हैं। कई बार वे तात्कालिक रूप से सफल होते हुए भी प्रतीत होते हैं किंतु भारतीय संस्कृति की आंतरिक बुनावट की संरचना ढीली होने पर भी मजबूत धागे की बनी हुई है। इतिहास साक्षी है कि इसे झकझोरा तो जा सकता है किंतु पूरी तरह छिन्न-भिन्न नहीं किया जा सकता है। संतुलन के इसी मूल स्वभाव के जातीय मनोगर्भ से भिन्न-भिन्न संदर्भों, परिप्रेक्ष्यों और शब्दावलियों में मझम-निकाय का सांस्कृतिक स्वर भासमान होता रहता है। भारतीय राजनीति के विकास पर ध्यान दें तो यह सहज ही स्पष्ट हो जायेगा कि जिसे केंद्रीय राजनीतिक सत्ता कहते हैं उसकी भारत में एकाध अपवादों को छोड़ दें तो कोई दीर्घकालिक उपस्थिति नहीं रही है। बावजूद इसके भारत की सामासिक एकता सदैव बनी रही है। भारतीय एकता का आधार राजनीतिक संधियों से विनिर्मित न होकर संस्कृति की सामासिकता से विनिर्मित है। ध्यान में यह भी रखा जाना चाहिए कि धर्म किसी भी संस्कृति का एक तत्त्व तो हो सकता है लेकिन एक मात्र तत्त्व कभी नहीं हो सकता है। यह भारतीय संस्कृति कोई धर्म-संस्कृति नहीं है। भारतीय संस्कृति के भी निर्मायक तत्त्वों में धर्म एक तत्त्व तो है किंतु एक मात्र तत्त्व नहीं है। दूसरे तत्त्व भी हैं और वे तत्त्व धर्म की तुलना में इतने अधिक प्रभावी हैं कि भारतीय संदर्भों में वे खुद धर्म का ही स्वरूप बदल देते हैं। खुद हिंदु धर्मशास्त्र को ही प्रमाण मानें तो जीवन के लक्ष्यों और मूल्यों को पुरूषार्थों के जिन चार आयामों और चरणों अर्थात, घर्म - अर्थ - काम - मोक्ष की शृँखला के अंतर्गत जिस महत्व-क्रम में व्यवस्थित किया गया है उसमें धर्म को न्यूनतम महत्त्व के स्थान पर ही रखा गया है। धर्म से बड़ा अर्थ, अर्थ से बड़ा काम, काम से बड़ा मोक्ष! संधि में विकार होता है जबकि समास में कोई विकार नही होता है; हिंदी भाषा के व्याकरण का यह सामान्य-सा नियम भारतीय संस्कृति के आंतरिक व्याकरण का भी सामान्य आधार है। खोजाना चाहिए कि क्या कारण है कि जिन लोगों को भारत के एक राष्ट्र में विकसित करने का श्रेय इतिहास बिना किसी द्विधा के उदारतापूर्वक देता रहा है वे अपने मूल क्षेत्र में कभी भी इतना बड़ा, व्यापक और बहुलातमक राष्ट्र नहीं बना सके। संस्कृति का स्वभाव वस्तुत: बहु-वृतविस्तारी हुआ करता है। शांत जल में कंकड़ी फेंकने पर उठनेवाले जल तरंग की तरह। केंद्र एक होता है और परिधि कई-कई। एक दूसरी स्थिति भी होती है। वह यह कि एक ही साथ कई-कई केंद्र विकसित हो कर उभरने लग जाते हैं और उनकी कई-कई परिधियाँ बनने लग जाती है, जैसे नटखट शिशु के द्वारा किसी शांत सरोवर में एक साथ कई कंकड़ डाल देने पर होती है। एक दूसरे को काटती हुई कई बार एक दूसरे से लिपटती हुई, एक दूसरे को प्यार करती हुई और पुचकारती हुई और कई बार पछाड़ती हुई भी ये परिधियाँ आगे बढ़ती रहती है।

स्मृति किसी भी संस्कृति का स्वभाव होती है। यह स्वभाव भारतीय संस्कृति का भी है। लेकिन भारतीय संस्कृति के संदर्भ में यह स्वभाव उसका महत्वपूर्ण गुण भी है और जातीय गुणसूत्र के विधायक तत्वों में से भी एक निर्णायक तत्व है। मनुष्य के विकास में स्मृति का बहुत बड़ा हाथ है तो विस्मृति का भी। स्मृति और विस्मृति की सकारात्मक और सार्थक अंत:क्रियाशीलता की स्वपरिचालित वृत्ति की जीवंत प्रक्रिया से संस्कृति में निरंतर नवोन्मेषशालिनी चेतना प्रवहमान हुआ करती है। स्मृति से उसमें नैरंतर्य का सातत्य बना रहता है वहीं विस्मृति से उसमें उपस्थित युगानुरुप प्रगतिशीलता को स्वीकार कर आत्मसात करने के लिए अपेक्षित अवकाश की संभावना बनती है। यदि पुराने को भुलाया नहीं जा सकेगा तो नये के लिए जगह कहाँ से और कैसे बनेगी? भारतीय संस्कृति में स्मृति का संचित कोष जितना विस्तृत है उतना व्यवस्थित नहीं है। परंपरा का पूर्वापर क्रम पूर्णत: सुव्यवस्थित नहीं है, बल्कि कई बार यह विशृंखल ही अधिक प्रतीत होता है। भारत के वृहत्तर सांस्कृतिक क्षेत्रों के अंतर्गत कई उप-क्षेत्र भी हैं। इन क्षेत्रों और उप-क्षेत्रों के आकार लेने की प्रक्रिया समय-समय पर तीव्रता और पद्धति के क्रम-परिवर्तन के कारण भिन्न-भिन्न व्याप्ति से बनती-बदलती रही है। वृहत्तर सांस्कृतिक क्षेत्र के कई पुराने केंद्र बाद के दिनों में उप-केंद्रों के रुप में सिमटते चले गये जब कि बदली हुई परिस्थति में कई पुराने उप-केंद्र वृहत्तर सांस्कृतिक क्षेत्र के नये केंद्र के रुप में विकसित हुए। इस नये विकास का भारतीय संस्कृति पर गहरा असर परिलक्षित किया जा सकता है।

ब्रिटिश राज के प्रभावकारी आगमन के बाद की पुनर्गठित राजनीतिक संरचना और पहले से उपलब्ध राजनीतिक संरचना में एक महत्वपूर्ण अंतर था, इस पर अलग से विचार करने की आवश्यकता है। ब्रिटिश-राज के प्रभावकारी आगमन के साथ राजनीति, संस्कृति, उद्योग, व्यवसाय की नयी चाल की शुरुआत से भारत की सांस्कृतिक-सामाजिक संरचना में भी अंतर आना प्रारंभ हुआ। इस दौरान बंगाल खासकर आज का पश्चिम बंगाल पूरे उत्तर भारत के नये केंद्र के रुप में बड़ी तेजी के साथ विकसित हुआ और इसका केंद्रीय शहर कोलकाता भारत की सांस्कृतिक राजधानी और पूर्वोत्तर भारत के प्रवेशद्वार जैसे अलंकरणों से विभूषित होने लगा। नवजागरण इसका केंद्रीय पाठ बना। यही वह समय था जब भारत में आधुनिक काल की शुरुआत होती है और बंगाल की धरती पर एक-से-एक महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक व्यक्तित्वों का लगभग एक साथ शृंखलाबद्ध आविर्भाव होता है। राजा राममोहन राय, ईश्वरचंद्र विद्यासागर, देवेंद्रनाथ ठाकुर, रामकृष्ण परमहंस, विवेकानंद, रवींद्रनाथ ठाकुर, बंकिमचंद्र चट्टोपाध्याय, शरतचंद्र चट्टोपाध्याय, केशवचंद्र सेन सुभाष चंद्र बोस आदि जैसे व्यक्तित्वों का बंगाल की सांस्कृतिक आकाश-गंगा में आविर्भाव होता है। आधुनिक हिंदी साहित्य के प्रणेता भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र से लेकर हिंदी के महाप्राण निराला, प्रेमचंद आदि का बंगाल की नवोनमेषी संस्कृति से गहरा लगाव था। उनका इस आकाश-गंगा से जीवंत रचनात्मक संपर्क था। यद्यपि साहित्य के इतिहास में यह निर्विवाद नहीं तथापि हिंदी की पहली कहानी के साथ बंग महिला का नाम, छद्म ही सही, आना बंग-जुड़ाव का ही एक और प्रमाण है। प्रेमचंद ने स्वीकारा भी है कि पहले हमारे पास केवल बंगला कहानियों का नमूना था। बाद के दिनों में भी इस रचनात्मक संबंध का क्रम जारी रहा। राहुल सांकृत्यायन से लेकर बाबा नागार्जुन तक का पश्चिम बंगाल से बहुत ही सघन लगाव कायम रहा है। आधुनिक हिंदी साहित्य के कई ऐसे महत्त्वपूर्ण नाम हैं

जिनकी सर्जनात्मकता का एक पहलू कोलकाता से भी जुड़ता है। इतना ही नहीं पश्चिम बंगाल के बाहर हिंदी क्षेत्र में बांगला साहित्यकारों का भी स्थाई बसेरा हुआ करता था। आज भी महाश्वेता देवी, विमल मित्र, सुनील गंगोपध्याय सरीखे बांगला साहित्यकारों के हिंदी अनुवाद बड़े चाव से पढ़े जाते हैं हलांकि दूसरे माध्यम के आ जाने से अब पहले जैसी स्थिति नहीं है। और यह तब की बात है जब, कम-से-कम संस्कृति के क्षेत्र में बाहर-भीतर का यह झमेला नहीं था, जो किसी कारण से अब संस्कृति के क्षेत्र में भी पाँव फैलाने में धीरे-धीरे कमयाब हो रहा है। लेकिन संतोष की बात है कि अभी भी अलगाव से अधिक लगाव का तत्त्व ही प्रभावी और सक्रिय है। इस लगाव के कई स्तर और कई भेद हैं। इसके साहित्यिक प्रसंगों और प्रभावों को आसानी से चिन्हित किया जा सकता है।

बिहार और उत्तर प्रदेश समेत पूरे हिंदी क्षेत्र के पास न तो अपना समुद्र तट ही उपलब्ध है और न ही प्रभावी जल-पथ ही सुलभ है। जब कि ये समुद्र तट और जल-पथ ही नई परिस्थितियों के अनुरूप व्यापारिक और औद्योगिक गतिविधि के प्राणाधार थे। ईसाई मिशनरियों का केंद्र होने और हिंदी के पहले प्रेस के पश्चिम बंगाल में लगने, अंग्रेजों की राजधानी होने, बंदरगाह एवं नये-नये कल-कारखनों के खुलने के कारण उद्योग-व्यवसाय-संस्कृति के नये केंद्र के रूप में विकसित हो जाने से जो नई चहल-पहल शुरू हुई उसने आस-पास के सभी स्तर के लोगों को अपनी ओर आकृष्ट किया। आजीविका और रोजगार के नये-नये अवसरों की उपलब्धता ने पूरे देश के लोगों को अपनी ओर आकृष्ट किया लेकिन स्वभावत: पास के बिहार और पूर्वी उत्तर प्रदेश के लोगों को बड़ी तीव्रता से अपनी ओर आकृष्ट किया। औद्योगीकरण और शहरीकरण की प्रक्रिया साथ-साथ चली। शहर औद्योगिक उत्पादन और विपणन के नये केंद्र बने। औद्योगीकरण के कारण गाँव छोड़कर शहर आने की प्रक्रिया स्वभावत: तेज हुई। व्यवसाय-वाणिज्य और उसके कारण रोजगार के भी नये-नये अवसर उत्पन्न हुए। उद्योग और वाणिज्य मिलकर शहर बनाते हैं। जहाँ उद्योग और वाणिज्य के जितने बड़े अवसर थे वहाँ उतने ही बड़े शहर बने। इन शहरों में आबादी की जो पहली-दूसरी खेप या पीढ़ी आई उसमें व्यक्ति बिना परिवार के अकेले ही आया। लेकिन कुछ ही दिनों के पश्चात उनके परिवार के अन्य सदस्य भी आने लगे। कुछ शहरी जीवन के आकर्षण और कुछ ग्रामीण क्षेत्रों में जारी सामंती शोषण और उत्पीड़न से मुक्ति की छटपटाहट आदि ने शहर में किसी-न-किसी तरह बस जाने की मानसिकता के लिए जगह बनाया। पहली-दूसरी खेप या पीढ़ी को, जब तक औद्योगीकरण और वाणिज्य-व्यवसाय के फलने-फूलने के दिन थे, किसी-न-किसी प्रकार का रोजगार भी मिलता गया। इन गैर-हिंदीभाषी राज्यों के विभिन्न शहरों में मैथिली, भोजपुरी, मगही, ब्रज, बुंदेलखंडी, अवधी, छत्तीसगढ़ी, खड़ीबोली आदि बोलनेवाली हिंदी क्षेत्रों की जो आबादी स्थाई, अर्द्ध-स्थाई रूप से बसी उसी से मूल रूप से उस राज्य में हिंदी समाज के गठन का विकास श्नै:श्नै: होने लगा। गठन की यह प्रक्रिया बहुत धीमी रही है इतनी कि हिंदी समाज का यह गठन अभी भी अपनी प्राथमिक और विकासशील अवस्था में ही है। जैसे पश्चिम बंगाल का हिंदी समाज, महाराष्ट्र का हिंदी समाज, असम का हिंदी समाज, आदि। उस क्षेत्र की भाषा-भाषियों की जातीयता के अंदर यह हिंदी समाज एक प्रकार से उस क्षेत्र के विजातीय (विभाषिक) समाज के रूप में विकसित और गठित होता रहा है। एक जातीयता के अंदर उसी जातीयता की विभिन्न सामाजिकताओं का विकास और

गठन एक अलग स्थिति बनाता है और और दूसरी जातीयता की सामाजिकता का विकास बिल्कुल भिन्न स्थिति बनाता है। इस भिन्नता के स्वरूप और समाज-मनोविज्ञान को समझना और इसकी ग्रंथियों को खोलना होगा। अतीत के गौरवगान में अपना ही मजा है। संस्कृति के उप-केंद्र से केंद्र में बदली और फिर केंद्र से उप-केंद्र में बदलने की प्रक्रिया में धकेली जानेवाली हर जातीयता के पास इस तरह के गान हुआ करते हैं। और फिर केंद्र से उप-केंद्र में बदल जाने पर इस गान में उल्लास से अधिक ढाढ़स का बोध होता है। अट्ठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दी बंगाल के तेजी से केंद्र में बदलने की गवाह बनी। लेकिन ब्रितानी राज की अपनी राजनीतिक आवश्यकता के कारण बीसवीं शताब्दी में बंगाल के फिर से पीछे लौटने की स्थिति अगर नहीं भी बनी तो कम-से-कम उसके विकास में एक बड़ा अवरोध तो जरूर ही उपस्थित हो गया। इस संदर्भ में 1905 के बंग-भंग के बाद 1911 में अंग्रेजों द्वारा भारत की राजधानी कलकत्ता से हटाकर दिल्ली ले जाये जाने के राजनीतिक निर्णय से केंद्र के रूप में बंगाल के अवमूल्यन की जो प्रक्रिया प्रारंभ हुई उसका राजनीतिक पाठ 1947 के देश-विभाजन और उसके बाद के राजनीतिक फलितार्थ में विशेष-विस्तार से पठनीय और उल्लेखनीय है। आजादी के बाद विभाजन की त्रासदी झेल रहे बंगाल को राजनीतिक रूप से सम्हलने और अपने पुराने गौरव को हासिल करने का बहुत कम अवसर मिला। बंगाल जो आज सोचता है, पूरा भारत कल सोचता है धीरे-धीरे यह अतीत का ही मुहावरा बनकर रह गया है। यह मानने में किसी प्रकार का कोई संकोच नहीं होना चाहिए कि राजनीतिक प्रपंचों के कारणों से धीरे-धीरे पश्चिम बंगाल का पुराना महत्त्व कम ही होता गया और बंगोन्मुखमता की तीव्रता में कमी आती गयी। उद्योग, राजनीति और संस्कृति के आपसी द्वंद्व से उत्पन्न समाज और संबंध सचेतनता के कारण रिनेसां के जो महत्त्वपूर्ण नवोन्मेषी तत्त्व बंगाल को सहज ही प्राप्त हुए वे ऐतिहासिक-द्वंद्वात्मक-भौतिकवादी वैज्ञानिक-विश्व-चिंतन अर्थात मार्क्सवाद की सामाजिक पीठिका के भारतीय स्वरूप गठन में काम आने लगे। यद्यपि, ये एक बेहतर सांस्कृतिक संभावना और अवधारणा के ही स्तर पर उपलब्ध थे। आधुनिक काल के सांस्कृतिक मिजाज के गठन में बंगाल के महत्त्वपूर्ण अवदान पर अलग से विचार किया जा सकता है, वैसे यह भी एक बात है कि संस्कृति के क्षेत्र में पड़नेवाले प्रभाव के कारक तत्त्वों की ठीक-ठीक तथा अनन्यत: पहचान कर पाना थोड़ा मुश्किल काम होता है।

पिछले दिनों असम में हिंदी समाज के सदस्यों की हत्या और उन पर हुए या हो रहे अत्याचारों की चिंताजनक खबर आई। ये हिंदीभाषी असम के हिंदी समाज के सदस्य हैं। वहाँ उनमें एक-सी प्रतिक्रिया हुई लेकिन वहाँ से बाहर जातीय संदर्भ में उसकी वैसी ही प्रतिक्रिया नहीं हुई। हिंदी क्षेत्र में मारवाड़ी या भोजपुरी कहे जाने पर जैसी प्रतिक्रिया के लिए संभावना बनती है वैसी ही प्रतिक्रिया की जगह हिंदी भाषी कहे जाने पर नहीं बनती है। एक उदाहरण और फिजी में भारतीय मूल के प्रधानमंत्री महेंद्र चौधरी के साथ जो सलूक हुआ उस पर प्रतिक्रिया का एक सामान्य भारतीय पक्ष तो था ही लेकिन हरियाणा की प्रतिक्रिया का अपना नितांत जातीय पक्ष भी था। इससे यह समझा जा सकता है कि गैर-हिंदी प्रदेशों में बन रहे हिंदी समाज को अखंड हिंदी जातीयता का मानसिक कवच प्राप्त नहीं है, क्योंकि उस अर्थ में हिंदी जातीयता एक जातीयता के रूप में नहीं बल्कि जातीयताओं के एक समूह के रूप में ही उपलब्ध है। अद्भुत सामाजिक प्रक्रिया यह कि अपने भू-क्षेत्र में हिंदी जातीयता के अंदर हिंदी

समाज के संघटन की प्रक्रिया के अभाव में भी भू-क्षेत्र के बाहर हिंदी समाज धीरे-धीरे आकार पा रहा है। इसके कई कारण हैं। एक कारण यह है कि हिंदी क्षेत्र में किसी की पहचान हिंदी भाषी के रूप में न होकर भोजपुरी भाषी या मैथिली भाषी के रूप में होती है, लेकिन हिंदी क्षेत्र के बाहर उन्हें सिर्फ और सिर्फ हिंदी भाषी के रूप में ही पहचाना जाता है। यहीं इस विडंबना को भी समझने का प्रयास किया जा सकता है कि क्यों हिंदी क्षेत्र में हिंदी सामाजिकता गठित नहीं हो पा रही है जबकि हिंदी भू-क्षेत्र की परिधि के बाहर हिंदी सामाजिकता गठित हो पा रही है। जातीयता के बाहर समाज संघटन की इस प्रक्रिया पर ध्यान देने से कई बातें स्पष्ट हो सकती हैं। इस हिंदी समाज की समस्याओं के कई महत्त्वपूर्ण पक्ष उस क्षेत्र की मूल भाषा-भाषी लोगों के साथ सांस्कृतिक, भाषिक और राजनीतिक संबंधों और संपर्कों से जुड़े हुए हैं और इन्हीं परिप्रेक्ष्य में इन्हें समझना होगा। बहुत ही स्वाभाविक है कि इस हिंदी समाज का सदस्य अपनी भाषा के साथ-साथ उस क्षेत्र विशेष की मूलभाषा का प्रयोग भी बहुत ही आत्मविश्वास और पूरे अधिकार से करता है। यह दीगर बात है कि कई बार उन में उतनी भाषिक दक्षता नहीं आ पाती है कि उस भाषा के बोलनेवाले मूल सदस्य उन्हें पहचान ही नहीं पाएँ तथापि बाहर से आया हुआ उनके अपने मूल भाषा-परिवार का सदस्य यह समझ ही नहीं पाता है कि वह जिसको उस क्षेत्र विशेष की भाषा में बात करते सुन रहा है वह मूलत: उस के अपने ही भाषा समूह या परिवार का सदस्य है!

जाहिर है पश्चिम बंगाल के हिंदी समाज, महाराष्ट्र के हिंदी समाज और असम के हिंदी समाज आदि का बाह्य स्वरूप एक-सा होते हुए भी उसकी आंतरिक बुनावट पूर्णत: एक ही नहीं हो सकती है और उनकी समसयाएँ एवं उन समस्याओं के समाधान भी एक नहीं हो सकते हैं। उनकी अपनी एक नितांत आत्यंतिक एवं आत्मिक स्थिति भी बनती है। ऐसे समाज के पास अपना कहा जानेवाला सुपरिभाषित भू-क्षेत्र नहीं होता है। ऐसे भू-क्षेत्र के अभाव के ही कारण सदियों से पीढ़ी-दर-पीढ़ी रहने के बावजूद वे उस क्षेत्र की जातीयता की विभिन्न सामाजिकताओं के समूह में अपनी एक सामाजिकता नहीं बना पाते हैं और अलग-थलग ही बने रहते हैं। इनकी विडंबना यह होती है कि ये कोलकाता में हिंदुस्तानी और हिंदुस्तान में कलकतिया के रूप में अपनाये जाते हैं। साहित्य के संदर्भ में भी सामान्यत: कुछ-कुछ ऐसा ही व्यवहार होता है। यद्यपि आज के हिंदी साहित्य में जातीय तत्त्व की तलाश करने पर भी भिन्न प्रकार के ही निष्कर्ष निकलेंगे तथापि हिंदी भाषी भू-क्षेत्र से बाहर के लोगों के साहित्य को लेकर हिंदी भाषी भू-क्षेत्र के अंदर के लोगों में आत्मीयता के भावबोध का वैसा ही समकक्ष और साकांक्ष संदर्भ नहीं बन पाता है। जो हो, हिंदी साहित्य के आधुनिक विकास में कोलकाता का महत्त्वपूर्ण योगदान है। क्योंकि सही मायने में कोलकाता ही वह महा-सांस्कृतिक-संगम-स्थल है जहाँ डुबकी लगाने के बाद भारत का सांस्कृतिक मिजाज अपने आधुनिक संचरण का पहला कदम उठाता है।

इस तरह कोलकाता न सिर्फ उच्च-स्तर पर जनमानस को प्रभावित करता रहा है बल्कि लोक के स्तर पर भी यह प्रभाव सहज ही परिलक्षित किया जा सकता है। कोलकाता और पूरब देश की चर्चा और उसका मार्मिक प्रसंग लोक गीतों में भी घूम-फिरकर कई रूपों में आता है। ऐसा ही एक प्रसंग विख्यात प्रगतिशील कवि त्रिलोचन की कविता में भी आया है। कलकत्ते पर बजर गिरे की उलाहना के रूप में। हिंदी भू-क्षेत्र की परिधि के बाहर गठित हो रही हिंदी सामाजिकता के इस नये लोकेल की सांस्कृतिक पहचान की अनिवार्यता को सहानुभूतिपूर्वक समझे

जाने की बौद्धिक आवश्यकता को उसके सही संदर्भों में देखे जाने की जरूरत है। केंद्रीयता की स्वीकृति और स्थानिकता के प्रति पुरजोर आग्रह से निर्मित भारतीय संस्कृति के मूल स्वभाव के अनुकूल स्थानिक-क्षेत्रीक-संघीक संदर्भों से जोड़कर अगर साहित्य को पढ़ने की चेष्टा की जाये या यों कहिये कि साहित्य के टेक्स्ट को उसके कॉनटेक्स्ट में रखकर उसका संवेदी आशय और आस्वाद प्राप्त किये जा सकने के अवसर बनें, दूसरे शब्दों में वाक के संवेदार्थ एवं संवेदाशय को वाक के मूल-स्रोत से जोड़कर ग्रहण करने के प्रस्ताव को रचनात्मक स्तर पर माना जाये, तो शायद (हिंदी) साहित्य के पाठक के भी लौट आने का रास्ता साफ हो और (हिंदी) साहित्य भी पटरी पर आ जाये। आज हिंदी साहित्य अपठनीयता नामक जिस प्राणघातक बीमारी की चपेट में है उसका एक कारण उसके वाक-तत्त्व के मूल-स्रोत के लुप्त नहीं तो गुप्त हो जाने से अवश्य ही जुड़ा हुआ प्रतीत होता है।

वैसे, यह कहने का कोई खास मतलब नहीं है कि पश्चिम बंगाल में रहनेवाले या इसकी सांस्कृतिक संवेदना से जुड़े प्रत्येक लेखक विचार और चिंतन के स्तर पर बिल्कुल एक ही हैं या उन में किसी प्रकार का मत वैपरीत्य या कोई आंतरिक संरोध नहीं है। ये सब हैं और इनका होना ही स्वाभाविक भी है। लोगों के अपने-अपने रूझान हैं लेकिन वे अपनी ही तरह की रूझान वाले बंगाली जातीयता और समाज के सदस्यों के साथ भी बहुत आसानी और सहजता से घुलमिल नहीं पाते हैं। इतना ही नहीं खुद हिंदी भाषियों में भी दो तरह के लोगों को आसानी से पहचाना जा सकता है--- एक तरह के लोग वे हैं जो स्थाई या अर्द्ध-स्थाई तौर पर यहीं बस गये हैं एवं उनका अपने मूल-वासस्थान से स्मृति मात्र का ही संबंध बचा हुआ है। दूसरे तरह के वे लोग हैं जो यहाँ लंबे समय से रह तो रहे हैं लेकिन यह उनका वासस्थान नहीं बन पाया है। अपने मूल-वासस्थान से उनका संबंध भौतिक स्तर पर भी बना हुआ है। पश्चिम बंगाल उनके लिए सिर्फ कमाने खाने की जगह है, जीने मरने की नहीं। वैसे तो आज की सामाजिक संरचना और महनगरीय जीवन-स्थिति एवं अर्थ प्रधानता के इस युग में परिवार का हर वह सदस्य लगभग प्रवासी की-सी मानसिकता में ही जीने को बाध्य है जिसका आर्थिक-जीवन या तो चुक गया है या फिर जिसका आर्थिक-जीवन अपने प्रारंभिक शून्यांक पर ही स्थिर है। यह प्रवास-बोध एक अलग अध्ययन का विषय है। यहाँ अभिप्रेत बस इतना ही है कि पश्चिम बंगाल में स्थाई या अर्द्ध-स्थाई तौर पर यहीं बस गये और सिर्फ कमाने खाने भर का संबंध रखनेवाले, इन दोनों तरह के लोगों में प्रवास-बोध का स्तर स्वाभाविक रूप से भिन्न है।

पश्चिम बंगाल से यहाँ रहनेवाले आज के हिंदी साहित्यकारों के संबंध कई स्तर पर हैं। संवेदना के स्तर से लेकर जीवन-यापन के विविध स्तर पर ये संबंध प्रभावी हैं। जिसका एक पक्ष यह भी है कि हिंदी भाषी प्रदेशों में रहते हुए साहित्य से सृजन के स्तर पर जुड़े लोगों और बंगाल में रहते हुए साहित्य से जुड़े लोगों में कहीं थोड़ा-सा अंतर भी है, जो खासकर सामाजिक-सांस्कृतिक- राजनीतिक संघर्ष और समायोजन की संवेदना की भिन्नता के कारण है। इस अंतर के कारणों से उत्पन्न भिन्नता के निहितार्थ की छान-बीन की जानी चाहिए। संभवत: एक कारण यह भी है कि बंगाल में जिस प्रकार के सामाजिक-सांस्कृतिक संघर्ष से हिंदी भाषी समाज के लोगों को जूझना पड़ता है उसके स्वरूप और हिंदी भाषी प्रदेशों में रहते हुए जिस प्रकार के संघर्ष से जूझना पड़ता है उसके

स्वरूप में भी थोड़ा-सा अंतर जरूर है। इस संदर्भ के सामाजिक अध्ययन की जरूरत है। इधर यहीं स्थाई रूप से रहकर और यहीं के होकर रह जानेवाले एक मध्यम वर्ग का अस्तित्व में आना एक महत्वपूर्ण सामाजिक सच्चाई है। इस वर्ग के लोगों को हिंदी भाषी प्रदेशों की आमफहम भाषा में सामान्यत: कलकत्तिया कहा जाता है। उनकी पीड़ा का एक और कोण है, उन्हें अपने को कलकत्तिया कहे जाने पर उतना एतराज नहीं होता है जितना कोलकाता लोगों के द्वारा बाहर के आदमी के रूप में चिह्नित किये जाने से होता है। बहरहाल यह सच है कि यहाँ बसी हुई हिंदी भाषी आबादी संस्कृति और सामाजिकता के स्तर पर न तो पूरी तरह हिंदी भाषी प्रदेशों में बसी हुई हिंदी भाषी समाज की विशेषताओं से मिलती है और न ही पूरी तरह बंगला भाषी समाज की विशेषताओं से। ये सामाजिक और सांस्कृतिक संलयन के विशेष चरण से गुजर रही आबादी है । हालाँकि ठेठ इस आबादी का अपना प्रतिनिधि साहित्य अभी आया नहीं है बल्कि एक महत्त्वपूर्ण संभावना ही है; लेकिन इसके रूझान की पहचान की जा सकती है और शीघ्र ही इसका विकसित रूप भी सामने आ सकता है। बिना संघर्ष के संलयन की प्रक्रिया वास्तविक नहीं हो सकती और बिना संलयन के कोई संघर्ष सार्थक नहीं हो सकता है। पश्चिम बंगाल में रह रही हिंदी भाषी आबादी एक भीषण सांस्कृतिक-सामाजिक अंतर्मंथन की प्रक्रिया से गुजर रही है। यह आबादी मोटे तौर पर प्रगतिशील मिजाज के साथ अपना रूपाकार निर्मित कर रही है। इस आबादी के मिजाज का कोई एकल स्तर नहीं है। फिर भी इस आबादी को प्रगतिशील संभावनाओं से मजबूती के साथ युक्त करने का यह महत्त्वपूर्ण समय है। धर्म, बाजार, राजनीति, अर्थनीति, बुनियादी मानव मूल्यों के भारी क्षरण और बढ़ती हुई बर्बरता एवम फासीवादी प्रवृत्ति के इस खतरनाक समय में प्रगतिशीलता के सांस्कृतिक एजंडे के इस नये लोकेल पर विचार करना ही होगा। आज फिर एक ऐसा कठिन दौर आ गया है जब विविध मानवीय सर्जनात्मक गतिविधियों की स्वायत्तता के कुछ संदर्भों को तत्काल स्थगित करने की मजबूरी बन गयी है। स्वायत्तता और स्वतंत्रता मनुष्य की मौलिक आकांक्षा होती है। मनुष्य की इस मौलिक आकांक्षा की संवेदनशीलता को लेखक न सिर्फ समझता है बल्कि बरतने के लिए भी बेचैन रहता है। आज की स्थिति में अलग-अलग चलने की सहूलियत बहुत नहीं बची है। आज सारी प्रगतिशील गतिविधयों के समुच्चय को एक साथ एक दूसरे से तालमेल बनाकर कदम बढ़ाना होगा। संतोष की बात है कि इस तरह की सोच के आकार पाने के भी संकेत मिल रहे हैं।

इस सामग्री के उपयोग के लिए लेखक की सहमति अपेक्षित है।
सादर, प्रफुल्ल कोलख्यान